International Advance Journal of Engineering, Science and Management (IAJESM)
ISSN -2393-8048, July-December 2022, Submitted in December 2022, iajesm2014@gmail.com

मोहनजोदड़ो एवं मौर्यकाल में मूर्तिकला का अध्ययन

Sarita, Research Scholar SunRise University, Alwar
Dr. Rajeev Kumar Jain, Professor, Dept. of History, SunRise University, Alwar, Rajasthan, India,
Corresponding Author E-mail – gfinstitute1234@gmail.com

सार

कला की अभिव्यक्ति के अनेक रूपों से एक मूर्तिकला सदैव से ही मनुष्य के सौन्दर्य बोध की वाहक रही है। भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं में धर्म तथा कला का पारस्परिक सम्बन्ध सिन्धु उपत्यका से प्राप्त अनेक प्रकार की मूर्तियों में स्पष्ट रूप में लक्षित होता है। भारत के दार्शनिक चिन्तन में इस ब्रह्म के असीमित रूप की अभिव्यंजना तथा अभिव्यक्ति का अभीष्ट प्रयोजनों की सिद्धि के निमित्त में पूजा परम्परा के विधान के रूप में किया जाता रहा है। फलस्वरूप, धर्म में मूर्ति निर्माण तथा उपासना की यही विशेषता एकता में अनेकता तथा भेद में अभेद का दिग्दर्शन कराती रही है।

कीवर्डः मूर्ति, मूर्तिकला, मोहनजोदडों, मौर्यकाल

प्रस्तावना

भारत में, जहाँ के अधिकांश निवासी मूर्ति-पूजक हैं, यह बताने की विशेष आवश्यकता नहीं कि मूर्ति क्या है। सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा, पीतल, अष्टधातु आदि सभी प्राकृतिक तथा कृत्रिम धातु, पारे के मिश्रण, रत्न, उपरत्न, काँच, कड़े और मुलायम पत्थर, मसाले, कच्ची या पकाई मिट्टी, मोम, लाख, गंधक, हाथीदाँत, शंख, सीप, अस्थि, सींग, लकड़ी एवं कागज के कुट आदि उपादानों को - उनके स्वभाव के अनुसार, गढ़कर, खोदकर, उभारकर, काटकर, पीटकर, हाथ से या औजार से डौलियाकर,ठप्पा करके वा साँचा छाप के (अर्थात् जो प्रक्रिया जिस उपादान के अनुकूल हो एवं जिस प्रक्रिया में जो खिलता हो), उत्पन्न की हुई आकृति का मूर्ति कहते हैं। किन्तु आज मूर्ति का अर्थ हमारे यहाँ इतना संकुचित हो गया है कि हम उसे एकमात्र पूजा को वस्तु मान बैठे हैं। परन्तु वस्तुतः मूर्ति का उद्देश्य इससे कहींव्यापक है।

प्रागैतिहासिक काल; मोहनजोदड़ो; वैदिककाल

मानव-सभ्यता का विकासक्रम, जो प्रायः दस-बारहहजार वर्ष पूर्व से वा उसके भी पहले से चलता है, इस प्रकारमिलता है-

1. प्रारंभिक प्रस्तर-युग, जिसमें मनुष्य केवल अनगढ़पत्थर के औजार और हथियार काम में लाता था।
2. विकसित प्रस्तर-युग, जिसमें ये औजार और हथियार चिकने और पालिशदार बनने लगे थे।
3. ताम्रयुग, जिसमें मनुष्य अग्नि के आविष्कार के फलस्वरूप ताम्र का आविष्कार करके उसका उपयोग करने लगा था।
4. कांस्ययुग, जिसमें ताँबे के साथ राँगा मिलाकर वहअपने शस्त्र और उपकरण आदि बनाने लगा था।
5. लौहयुग, जिसमें लोहे का आविष्कार तथा प्रयोग करकेवह बड़े बड़े करिश्मे कर दिखाता है।यही लौहयुग आज भी चल रहा है।

किन्तु जहाँ तक भारत का संबंध है, इस क्रम में यह अंतरपाया जाता है कि यहाँ कांस्ययुग का अभाव है; ताम्रयुग के बादएकबारगी लौहयुग आ जाता है। इसका विशेष कारण है। इस विकासक्रम के आरंभ से ही मनुष्य, चित्र की भाँति, मूर्तिभी बनाने लग गया था। उस समय पृथ्वी पर वर्तमान हाथी कापूर्वज एक ऐसा हाथी होता था जो डीलडौल में इससे कहीं बढ़ाथा, उसके तन पर बड़े बड़े बाल होते थे और दाँत का अग्रभागइतना सीधा न होकर घूमा हुआ होता था। इसका तुल्यकालीनअहेरी मनुष्य इसी के दाँत पर इसकी आकृति खोदकर छोड़

International Advance Journal of Engineering, Science and Management (IAJESM)
ISSN -2393-8048, July-December 2022, Submitted in December 2022, iajesm2014@gmail.com
गयाहै, एवं इसी उपादान कीघोड़े की एक प्रतिमाभी बनाई गई है जो आज-कल भी सुन्दर ही कही जायगी। इसीप्रकार, किंतु उक्त समय से कई हजार वर्ष इधर, उसने उस समयके ठहुओं की आकृति भी अस्थि पर बनाई है। ये कृतियाँ मूर्तियोंकी प्रपितामही कही जा सकती हैं।

चित्र 1: मोहनजोदड़ों काल में प्राप्त तांबे की मूर्ति

6 ई० पू० पूर्वी से 9वीं सहस्राब्दी से नागरिक सभ्यता काआरम्भ हो गया था। उस समय से मनुष्य मिट्टी, धातु, पत्थर और पत्थर पर पलस्तर की हुई पूरी डौल वाली मूर्तियाँबनाने लग गया था। ताँबे, काँसे, सींग, अस्थि, हाथीदाँत और मिट्टी पर उभारकर, व उभरी हुई रूपरेखाएँ बनाकरव इन रेखाओं को खोदकर तरह-तरह की आकृतिवाले टिकरेव सिक्के जैसी कोई चीज भी वह बनाता था।किंतु उन दिनोंजो जातियाँ अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई थीं वे भी मानव-आकृति कामान करनेवाली ताँबे की पीटी हुई मोटी चादर की आकृतियाँबनाती थीं जिनके ऊपरी अंश उठा हुआ होता था। ये आकृतियाँ पूजा के लिये बनाई गई जान पड़ती हैं।
मूर्ति बनाने में आरंभ से ही मनुष्य के मुख्यतः दोउद्देश्य रहे हैं। एक तो किसी स्मृति को या अतीत को जीवितबनाए रखना, दूसरे अमूर्त को मूर्त रूप देना, अव्यक्त को व्यक्तकरना अर्थात् किसी भाव का आकार प्रदान करना। यदि हमसारे संसार की सब काल की प्रतिमाओं का विवेचन करें तो उनका निर्माण बिना देश-काल के बंधन के मुख्यतः इन्हीं दोनों प्रेरणाओं से पायेंगे। ऊपर जिन प्रारंभिक मूर्तियों की चर्चा हुई है उनमेंभी इन्हीं प्रवृत्तियों का बीज मिलता है, अर्थात् हाथी और घोड़े कीआकृतियाँ बनाकर मनुष्य ने अपने इर्द गिर्द के जंतु-जगत् कोऔर संभवतः उसके ऊपर अपने विजय की स्मृति सुरक्षित की है। इसी प्रकार मनुष्य आकृति का इंगित करनेवाले ताँबे के टुकड़ेबनाकर उसने अपनी अमूर्त आध्यात्मिक भावना को आधिभौतिकरूप दिया है। देखा जाये तो मानवता का विकास वस्तुतः इन्हींदो विशेषताओं पर अवलंबित है-अतीत का संरक्षण और अव्यक्तकी मूर्त अभिव्यक्ति।

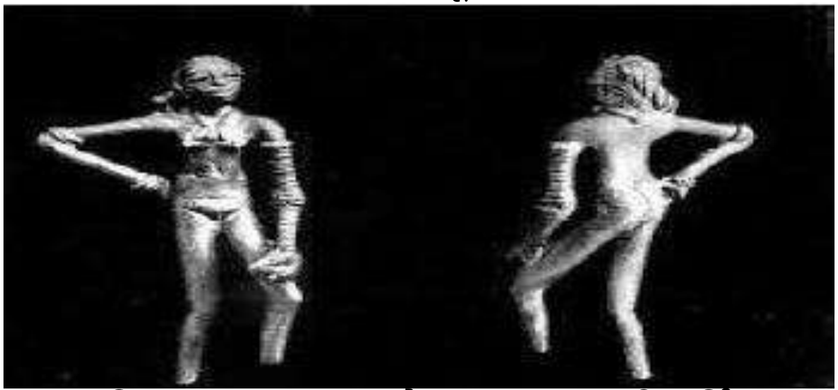

चित्र 2: हड़प्पा काल में प्राप्त कांस्य की मूर्ति

मूर्ति-कला में ऐतिहासिक मूर्तियां पहले सिरे के अंतर्गत औरधार्मिक तथा कलात्मक मूर्तियाँ दूसरे सिरे के अंतर्गत है। वस्तुतःआध्यात्मिक भावना में-उपासना में -जो श्रवद्रिय, बुद्धिग्रास,आत्यंतिक

सुख प्राप्त होता है व रागात्मक अभिव्यक्ति में जोलोकोत्तर सुख है वह और कुछ नहीं निराकार का, बुद्धिग्राह्य कोअर्थात् भाव को साकारता प्रदान करना है। दूसरे शब्दों में मूर्ति,चित्र, कविता वा संगीत के रूप में परिवर्तित करना है। हमारे देश की मूर्तिकला ने मुख्यतः इसी दूसरे लक्ष्य की ओर अपना साराध्यान रखा है। भौतिक रूप का निदर्शन न करके तात्त्विक रूपका निदर्शन ही उसका मुख्य उद्देश्य है।

उस समय के पक्की मिट्टी के रंगे हुए बर्तन काफी तादाद में खुदाई में मिले हैं। मिट्टी की, पत्थर की तथा ताँबे की मूर्तियाँ और सबके ऊपर टिकरे भी खुदाईयों मे बहुतायत में मिले हैं। ये टिकरे हाथी दाँत के तथा नीले या उजले रंग के एक प्रकार के काँच के हैं और आकार में चैकोर हैं।

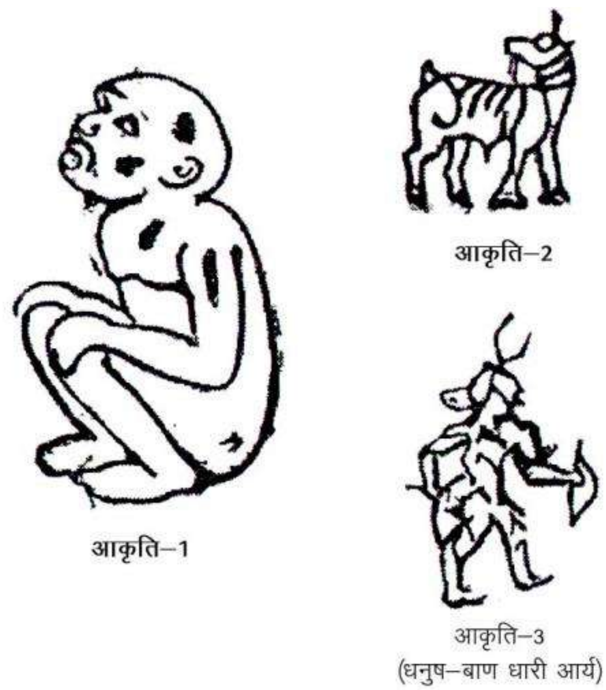

चित्र 3: मोहनजोदड़ो में प्राप्त मिट्टी का खिलाना (आकृति–1), ताबें की फलक पर उभरे सरहद की मूर्तियाँ (आकृति–2 एवं 3)

इन पर ढील (ककुट्) वाले और ये डाँल वाले बैल, हाथी (जिस पर झूल के कारण जान पड़ता है कि वह सवारी के काम आता था), बाघ और गैंड़े की, तथा पीपल के पत्तों की एवं अनेक प्रकार की अन्य आकृतियाँ मिलती हैं और चित्रलिपि के, एक पंक्ति से तीन पंक्ति की ओर लटकाने या पहनने के लिये छेद होता है।इनके उपयोग का अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चला है, किन्तु इतना निश्चित है कि ये मुहर नहीं है अन्यथा इनके ऊपर उभारदार काम न होता, जिसकी छाप धँसी हुई साँचे जैसी अर्थात् उलटी है।

हमारी वर्तमान सभ्यता से इस जाति का क्या संबंध था, इसका पता भी अभी तक नहीं चला है। उक्त चित्रलिपि जिस दिन पढ़ ली जायेगी, उस दिन यह समस्या भी हल हो जाएगी। तब तक इतना ही कहा जा सकता है कि उक्त टिकरों पर जो चिन्ह और आकृतियाँ मिली हैं उनमें से कई ई॰पू॰ 7वीं शती से ईसवी सन् के आसपास तक के हमारे सिक्कों पर विद्यमान हैं और इन सिक्कों का निश्चित रूप से हमारे ऐतिहासिक राजवंशों से संबंध है। सिंध काँठे की सभ्यता में अकीक के मनकों पर एक विशेष प्रकार के सफेद रंग की धारियाँ, बिंदु तथा अन्य प्रकार की तरह बनाने का हुनर था। यह कौशल भी उक्त सिक्कों के काल तक चलता रहा

है। इसी प्रकार सिंध काँटे की एक मिट्टी की मूर्ति के गहने उन गहनों से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं जो उक्त शतियों की भारतीय आर्य नारियों के अंगों को सजाते थे। इन बातों से इतना पता तो चलता है कि उस लुप्त संस्कृति की परम्परा हमारी संस्कृति से भी संबंध है।

मौर्यकाल (325-188 ई० पू०)

शैशुनाक वंश के बाद मगध में नन्द वंश कासाम्राज्य (**366-326** ई० पू०) हुआ। बाद में यह वंश बहुतअत्याचारी हो गया था। चाणक्य के पथ-प्रदर्शन में चन्द्रगुप्त मौर्य (**325-302** ई० पू०) ने इस अत्याचार से राष्ट्र का उद्धार किया और मौर्य राजवंश की स्थापना की। चाणक्य के अनुपम ग्रंथ अर्थशास्त्र से पता चलता है कि उस समय शिल्पियों (दस्तकारों) की श्रेणियाँ अर्थात् पंचायतें होती थी। वे लोग कम्पनियों की भाँति साफे में काम करते थे। बौद्ध ग्रन्थों में इनश्रेणियों की संख्या अठारह दी है, जिनमें बढ़ई, कर्मार (कर्मकार) चित्रकार, चर्मकार आदि शामिल थे। इन श्रेणियों के प्रायःअलग अलग गाँव होते थे और बड़े नगरों में अक्सर एक एकभैणी का एक एक मुहल्ला होता था। ये अच्छा प्रभावरखती थीं और राज्य की ओर से इनकी रक्षा का विशेषप्रबंध था। मौर्य राज्य के पहले, अपराध करने पर शिल्पियोंके हाथ काट लिए जाते थे। चन्द्रगुप्त के समय से यह दंडउठा दिया गया था। दशकुमारचरित से पता चलता है कि उसके समय (ई० **7**वीं-**8**वीं शती) तककायम था।

चित्र 4: अनंत शयन विष्णु, शेषशय्या पर (देवगढ, उत्तर-प्रदेश)

चंद्रगुप्त के दरबार में ग्रीक राजदूत मेगास्थने रहताथा। उसने अपने प्रवास का वर्णन लिखा था, जिसके अब छिन्न-भिन्न अंश प्राप्त हैं। उनसे पता चलता है कि चंद्रगुप्त काविशाल प्रासाद एशिया के सूसा आदि के प्रसिद्धतम प्रासादों को भी मात करता था। इस प्रासाद के भग्नावशेष समुचितखुदाई के अभाव में अभी तक नहीं मिले हैं। स्मिथ का यहअनुमान कि यह लकड़ी का तथा अन्य नाशवान् उपकरणों का बना था, अतः निःशेष हो गया, शंकनीय है; क्योंकि यदि ऐसाहोता तो जिस प्रकार मेगास्थने ने पाटलिपुत्र के परकोटे के विषयमें लिखा है कि वह लकड़ी का था, उसी प्रकार इसके विषय में भीलिखता। यहाँ इस राजप्रासाद की चर्चा इसलिये कर दी गई कि अपने यहाँ मूत्रिकला का वास्तु (इमारत) से विशेष संबंधरहा है, क्योंकि सभी अच्छे भवनों पर मूत्रियों और नक्काशीअवश्य रहती थीं; दूसरी ओर मूर्तियों की स्थापना के लिये बड़े बड़ेऔर उच्चकोटि के भवनों का निर्माण किया जाता था। अतएवमूत्रि और वास्तु अन्योन्याश्रयी कलाएँ हैं।

चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक (**277-239** ई० पू०) एकबहुत बड़ा सम्राट् ही नहीं, संसार के महापुरुषों में से भी था। राज्यरोहण के बाद बारहवें वर्ष उसने अपने प्रबल पड़ोसी कलिंग

कीविजय की। उस युद्ध में करीब डेढ़ लाख कलिंगवाले कैद किए गए,एक लाख खेत रहे और उससे भी अधिक पीछे से मरे; किन्तु इसपरिणाम का उसके मन में भारी अनुशोचन हुआ। उसने अनुभवकिया कि जहाँ लोगों का इस प्रकार वध, मरण और देशनिकालाहो वहाँ जीतना न जीतने के बराबर है। उसके जीवन में इससेबड़ा परिवर्तन हुआ और वह भगवान् बुद्ध के दिखाए हुए मार्ग कापथिक हो गया। इसके उपरांत उसने पर्वतों, शिला-फलकों औरबड़े बड़े लाठों पर अपनी इस परिवर्तित मनोवृत्ति के प्रज्ञापनखुदबाए जिन्हें वह घर्मलिपि कहता है। इन धर्मलिपियों के प्रत्येकशब्द से उसकी महत्ता टपकती है। उसने यही निश्चय नहींकिया कि वह अब रक्तपातवाले नए विजय न करेगा, बल्कि अपनेपुत्र-पौत्रों के लिये भी यह शिक्षा दर्ज की कि वे ऐसे नए विजय नकरें और धर्म के द्वारा जो विजय हो उसी को वास्तविक विजय मानें।वह सब जीवों की अक्षति तथा समचर्या और प्रसन्नता चाहनेलगा। लोक-हित को उसने अपने जीवन का ध्येय बना लिया।

स्वयं बौद्ध होते हुए भी अशोक सब पंथों को सम-दृष्टि सेदेखता था और प्रयत्नशील रहता था कि विभिन्न पंथवाले परस्पर प्रेम, आदर और सहिष्णुता से रहें तथा प्रत्येक पंथ के तत्व की वृद्धि हो। सर्वोपरि उसने धर्मविजय प्रारंभ की, जिसके लिये अपने सीमांत के आरक्षित तथा मित्र राष्ट्रों में, सिंहल से लेकर हिमालय तक तथा पश्चिमी एशिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रिका एवं यूनान तक प्रचारक मैजे। फलतः इन सभी क्षेत्रों में उसकेधर्मानुशासन का अनुसरण होने लगा, जिसका प्रभाव उसके सैकड़ोंवर्ष बाद तक बना रहा।

चित्र 5: अर्द्धनारीश्वर, भगवान शिव (खजुराहो, म.प्र.)

वह जिस घर्म की वृद्धि करता था वह सम्प्रदाय-विशेष न था; शुद्ध और उच्च आचरण अर्थात्, विश्व-धर्मं था।ऐसे लोकोत्तरचेता की मूर्ति एवं वास्तु की कृतियाँभी लोकोत्तर होनी चाहिएँ। अशोक के उक्त संदेश पत्थरों पर उत्कीर्ण हैं।इनमें से सिलायंभों (स्तम्भों) की कला भी उतने ही महत्त्व की हैजितने उनपर ये लेख है। ये स्तम्भ अशोककालीन मूर्ति कलाके सार हैं। इतना ही नहीं, संसार भर की उत्कृष्टतम मूत्तियों मेंइनका स्थान है। वैसे तो उड़ीसा में भुवनेश्वर से

सात मीलदक्खिन धौली नामक गाँव की अश्वत्थामा पहाड़ी की चट्टानपर इस सम्राट की जो धर्मलिपि खुदी है उसके ऊपर हाथी केसामने की जो मूत्रि कोरकर बनाई गई है, वह भी एक बढ़िया चीज है; किंतु अशोक स्तंभों के आगे वह कुछ भी नहीं।

उपसंहार

प्राचीन भारत में मूर्ति निर्माण की कलात्मक प्रवृत्तियों का विकास के अन्तर्गत सिन्धु घाटी से लेकर गुप्तकाल तक के कालखण्ड में विविध मूर्तियों तथा अन्य कलात्मक आकृतियों के विकास का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन भारत में मूर्ति शिल्प तथा निर्माण का क्रम सिन्धु घाटी सभ्यता के विभिन्न स्थलों पर उत्खनन में प्राप्त मूर्तियों के अध्ययन से आरम्भ होता है। सिन्धु घाटी की मानव मूर्तियों की विशेषताएं तथा शिल्प विधान अद्‌भुत था। मिट्टी, धातु तथा पाषाण की इन मूर्तियों में भाव बोध है। वैदिक काल से लेकर मौर्य काल के उदय तक के कालखण्डों में भौतिक रूप में किसी प्रतिमा को प्राप्त नहीं किया जा सका है। यद्यपि वैदिक वाड़्मय में 'सहस्त्र शीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्ष सहस्त्रपाद' अर्थात् साक्षात् **100** सिर वाला पुरुष का उल्लेख किया गया है। सूत्र साहित्य में भी देवा भद्र अमृतबन्धवः का सन्दर्भ साकार रूप का परिचय अवश्य देता है। लेकिन वैदिक काल से मौर्य शासन की स्थापना तक के कालखण्ड में कोई मूर्ति के रूप में साक्ष्य नहीं मिला है। मौर्य काल में कई रूपों में आकृतियों को अवश्य बनाया जाता था। यद्यपि इस कालखण्ड में जैन धर्म से सम्बन्धित एक नग्न प्रतिमा लोहानीपुर (पटना) से अवश्य प्राप्त हुई है। जैन प्रतिमा समूह में तीर्थंकर मूर्ति की प्रधानता रही। प्राचीन भारतीय मूर्तिकला में अनेक हिन्दू देवी देवताओं के रूप में लक्ष्मी का विविध रूपों तथा माध्यमों पर अंकन तथा प्रस्तुतीकरण होता रहा। लक्ष्मी का कलात्मक रूप शुंग कला में दिखाई देता है। तदन्तर कुषाण काल में मथुरा में लक्ष्मी की प्रतिमाऐं बनाई जाती रहीं। इन मूर्तियों में विविध अलंकरणों का प्रयोग हुआ। हिन्दू देवियों में सरस्वती तथा दुर्गा आदि की मूर्तियाँ बनाई जाती रहीं। प्राचीन भारत में हिन्दू देवताओं की विविध मूर्तियों में शिव, विष्णु, सूर्य आदि का भी निर्माण सिन्धु सभ्यता में श्रृंगायुक्त देवता, पशुपति से लेकर गुप्तकाल तक होता रहा। प्राचीन भारत में मूर्तियों में तीन प्रकार के अलंकरणों का प्रयोग किया गया, रेखाकृति प्रधान, पत्रपल्लरी प्रधान तथा कल्पना प्रसूत। अलंकरणों के प्रयोगों में वनस्पति, जीव जन्तु, हिंसक पशु, पक्षी तथा ज्यामितीय प्रकार के अलंकरणों के संभाग थे। इन सब बिन्दुओं पर प्रस्तावना के रूप में इस अध्याय में प्रकाष डाला गया है।

सदर्भ

मजूमदार, आर.सी. (अनुवादक), द एज़ ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, बोम्बे, **1956**
शिवराममूर्ति, सी., अमरावतीस्कल्पचर्स**1942**, मद्रास
सिंह, एस.बी., ब्राह्मणिकल, आईकन इन नाॅर्थन इंडिया, नई दिल्ली, **1977**
तिवारी, एस.पी., हिन्दू आईक्रोनोलॉजी, नई दिल्ली, **1979**
हटर्ल, हरबर्ट, सम रिजल्टस ऑफ एक्स्केवेशन्स ऐट सौंख, जर्मन स्कालर्स आन इण्डिया, नई दिल्ली, **1976**
पाण्डेय नेत्र, भारत का सरल इतिहास, स्वास्तिक प्रकाशन, एलनगंज, इलाहाबाद, **1973**
पाटकर, प्रसन्न, प्राचीन भारतीय कला में अलंकरण, आगरा, **1967**
श्री वृंदावन भट्टाचार्य एम० ए० कृत, इंडियन इमेजेज (भारत कलाभवन, काशी), प्रस्तावना
श्रीवास्तव, ए.एल., भारतीय कला, इलाहाबाद, **2002**
श्रीवास्तव, ए.एल., भारतीयकला, किताबमहल, दिल्ली, **1988**
श्रीवास्तव, ब्रजभूषण,प्राचीनभारतीय प्रतिमाविज्ञानएवंमूर्तिकला, विश्वविद्यालय प्रकाशन, **2010**, वाराणसी